

तृतीय अध्याय

हिंदी नाटकों की अभिनय परंपरा
और नाटककार सर्वेश्वर

तृतीय अध्याय

हिंदी नाटक में अभिनय परम्परा और नाटककार सर्वेश्वर

प्रस्तावना

साहित्य में अनेक विधाएँ हैं; इन विधाओं का दो रूपों में विभाजन किया है - एक दृश्य काव्य और दो, श्रव्यकाव्य । दृश्य काव्य का एक अंग नाटक है और नाटक को अभिनीत किया जाता है । साहित्य की अन्य विधाओं से नाटक की एक अलग पहचान है । इसका कारण है अभिनय। अभिनय नाटक प्राण का तत्व है, ऐसा भारतीय नाट्यशास्त्रियों का मानना है। अभिनय नाटक का मुख्य अंग है। नाटक में निहित भावों के निर्माण का वह प्रभावशाली माध्यम है ।

अभिनय प्रवृत्ति परक कला है । प्रत्येक व्यक्ति समय-समय पर अभिनय करता है । 'अभिनय कला' के संबंध में वाष्णेय ने अपने विचार प्रस्तुत करते हुए लिखा है- " अभिनय नाटक का सर्वप्रमुख तत्व है । कहा जाता है कि अभिनय का प्रारंभ सृष्टि के साथ हुआ । अपनी प्रारंभावस्था में जब मनुष्य का संपर्क क्रियाओं का पूरी तरह जान लिया तब उसका औसुक्य मैथुन के प्रति बढ़ गया । इन मैथुनिक क्रियाओं की भावनात्मक अभिव्यक्ति को प्रदर्शित करने के लिए विशेष बिंबों प्रतीकों का निर्माण किया गया । यह प्रतीक और संकेत उसके पारम्परिक संबंधों की स्थापना करने में सुविधाजनक सिद्ध हुए और इन्हीं के आधार पर अभिनय का निर्माण हुआ ।"^१

व्यक्ति जन्म से अभिनेता होता है । बच्चे जब खेलते हैं , तब वे अपनी कल्पनाशक्ति का परिचय देते हैं । कभी रेलगाड़ी बनते हैं , तो कभी मोटर ; शिक्षक , चोर , दूकानदार , सिपाही , साधु , बारी-बारी से बनते हैं । लडकियाँ घरोंदे का खेल खेलती हैं ।

अभिनय कोई दैवी गुण नहीं है, और न ही कोई विशिष्ट मानव-अनुभव । दैनिक जीवन के आम अनुभवों से भावावेशों से क्रिया प्रति-क्रिया से आशा-निराशा से जुड़ा है अभिनय । यही कारण है कि गंभीर अभिनय से जिंदगी की समझ बढ़ती है , लोगों के व्यवहारों और

मानसिकताओं की परतें खुलती हैं। कुल मिलाकर आदमी अन्ततः जीने की कला से जुड़ जाता है। कुछ लोग स्वभाव से अभिनेता होते हैं और कुछ अपनी कुशाग्र बुद्धि और मेहनत के बल पर अभिनय की बारीकियाँ हासिल करते हैं। अभिनय का उद्देश्य है कि नाटक के कथ्य को निर्देशक की दृष्टि से पूर्ण प्रभावता के साथ दर्शकों तक पहुँचाये।

अभिनय की परिभाषाएँ

अंग्रेजी, संस्कृत तथा हिंदी के सभी विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार अभिनय की परिभाषा करने का प्रयास किया है।

(i) अंग्रेजी परिभाषाएँ

अंग्रेजी साहित्य के विद्वानों ने अभिनय की परिभाषाएँ निम्न प्रकार प्रस्तुत की हैं-

१. जॉन बॅरी नूत :-

"अभिनय कला रंगमंच पर सत्य का आभास निर्माण करने की कला है। यह आभास करते समय रंगमंच पर क्रिया व्यापार करनेवाले पात्र, प्रत्येक शब्द बोलते समय, प्रत्येक क्रिया करते समय परिस्थिति ध्यान में रखते हुए, उसके अनुरूप बोलना या करना आवश्यक है। वे जो बोलते हैं, वही करते हैं। उनके क्रिया-व्यापार में जो भी प्रस्तुत हो रहा है, वही सत्य हो रहा है। मैं 'मैं' नहीं तो जिसका अभिनय कर रहा है। 'वह' है, ऐसा विश्वास दिखाई देना आवश्यक और विशेषतः रंगमंच पर निर्मित प्रसंग प्रथम बार ही प्रस्तुत हो रहा है। तो उस समय अभिनय कला की कसौटी है, क्योंकि कार्य व्यापार की सहजता ही कला का प्राण है।"^२

२. सर हेन्री अर्विंग :-

"नाटककार द्वारा निर्मित काल्पनिक व्यक्तियों को शरीरबद्ध करना और उनके दिल की उच्छृंखलता सामान्य जन तक पहुँचाना अभिनय की जिम्मेदारी है।"^३

३. टेलर :-

"मन मस्तिष्क में निर्मित व्यक्तियों का जैसा-का-वैसा शारीरिक चित्रण करना और उनका चित्रण करते समय अपने भावविश्व में उठे तरंगों को दर्शकों तक पहुँचाना अभिनय है।"^४

(ii) संस्कृत परिभाषाएँ

संस्कृत साहित्य में निम्नलिखित विद्वानों ने अभिनय की परिभाषाएँ इसप्रकार प्रस्तुत की हैं -

१. नाट्यशास्त्र :-

"अभि' उपसर्ग से प्रपणार्थक 'णीअ' धातु से 'अच्' योजित होने पर अभिनय शब्द निष्पन्न होता है। आगे लिखा गया है कि जिसके सांगोपांग प्रयोग द्वारा नाट्य के अनेक अर्थों का श्रोता या सामाजिक को हृदय से विभावन या रसास्वादन कराया जाय उसे अभिनय कहते हैं।"^५

२. आ. विश्वनाथ :-

"जिसमें अभिनेता द्वारा शरीर तथा वाणी से अभिनेय चरित की अवस्थाओं का अनुकरण (अनुकार) किया जाता है। नट द्वारा शरीर मन तथा वाणी से रंगमंच पर राम, युधिष्ठिर आदि की अवस्थाओं का अनुकरण ही अभिनय है।"^६

(iii) हिंदी परिभाषाएँ

हिंदी साहित्य में निम्नलिखित विद्वानों ने अभिनय की परिभाषाएँ इसप्रकार प्रस्तुत की हैं -

१. डॉ. दशरथ ओझा :-

"अभिपूर्वक 'नी' धातु 'अच्' प्रत्यय के योग से 'अभिनय' शब्द निष्पन्न होता है ; जिसका अर्थ है हृदय के भावों को प्रकाशित करनेवाली अंगिक चेष्टा। स्पष्टतः बाह्य चेष्टाओं के साथ हृदयस्थ भावों की अनुकरणात्मक अभिव्यक्ति भी अभिनय द्वारा अभीष्ट है।"^७

२. जीवन प्रकाश जोशी :-

"किसी नाट्य कृति का जन साधारण के सामने कलात्मक प्रस्तुतीकरण 'अभिनय' है।"^८

उपरोक्त विद्वानों के विचारों एवं परिभाषाओं को देखने पर स्पष्ट होता है कि नाटककार अपने मन मस्तिष्क के विचारों को शब्द बद्ध करता है और उन विचारों के अनुरूप व्यक्तियों की

कल्पना करता है। इन विचारों को व्यक्ति के विभिन्न शारीरिक अवयवों की सहायता से दर्शकों तक पहुँचाना ही 'अभिनय' है।

अभिनय का स्वरूप

प्राचीन काल से अभिनय के संबंध में विचार होता आया है। आचार्य भरतमुनि द्वारा रचित 'नाट्य शास्त्र' ग्रंथ नाटक की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। भरतमुनि ने अभिनय के निम्नलिखित प्रकार बताए हैं -

१. अंगिक अभिनय।
२. वाचिक अभिनय।
३. सात्विक अभिनय।
४. आहार्य अभिनय।

१. अंगिक अभिनय :-

शरीर, शारीरिक चेष्टाओं तथा मुख के द्वारा नाट्यस्थितियों का प्रदर्शन करना अंगिक अभिनय कहलाता है। शरीर के अंतर्गत सिर, कटि, पैर, कपोल, पीठ, उदर, वक्ष, आँख, नाक, भौंह, उदर और चिबुक इत्यादी समस्त शरीर के अंगों की गणना की जाती है। अंगिक अभिनय में उपांग होते हैं। उपांग के अभिनय में सिर की चेष्टाएँ, नाक, मुँह, कपोल तथा चिबुक की स्थितियाँ, दृष्टि-निक्षेप तथा भ्रू-विलास आदि आता है। सिर की चेष्टाएँ, भाव अथवा विचारों की द्योतक होती हैं।

२. वाचिक अभिनय :-

इसे नाट्य का शरीर माना गया है। किसी नाट्य कृति से उसके संवाद हटा दिये जाए तो इसकी नाट्य संज्ञा समाप्त हो जाएगी। बहुत सीमा तक संवाद या वाचिक अभिनय में नायक की रस रूप आत्मा निवास करती है। अभिनेता दर्शकों के सामने अभिव्यक्ति करता है, इसलिए उसे ध्यान रखना चाहिए कि शब्द के अर्थ, उच्चारण, बलाघात, विराम आदि को

दृष्टि में रखते हुए ही उच्चारण करना चाहिए । वाचिक अभिनय को प्रभावी बनाने वाले अनेक उपादान होते हैं ।

३. आहार्य अभिनय :-

वेशभूषा से संबंधित अभिनय को आहार्य अभिनय कहा जाता है । यथार्थ की सृष्टि के लिए वेशभूषा धारण करना अभिनेता के लिए अत्याधिक सहाय सिद्ध होती है ।

४. सात्विक अभिनय :-

अंतःकरण विशेष धर्म , सत्य के लेने वाले अंग विकारों को सात्विक अनुभव करते हैं । इन्हीं के अभिनय को सात्विक अभिनय कहा जाता है । सात्विक भाव आठ प्रकार के होते हैं । मनुष्य के अंग-विकार मनुष्य के हृदय में स्थित भाव-दशा को बाहर प्रकट कर देते हैं । अतः इन्हें भावों का अभिनय मानकर सात्विक अभिनय की संज्ञा दी जाती है ।

अभिनय की अनेक विशेषताएँ हो सकती हैं । उन विशेषताओं के आधार पर नाटक की अभिनेयता का अध्ययन किया जाता है । नाटक में निर्देशक , रूपसज्जा , दृश्यसज्जा , प्रकाश योजना , ध्वनि एवं संगीत , संवाद , भाषा आदि विशेषताओं का विशेष योगदान होता है । इन विशेषताओं की विस्तृत चर्चा पंचम अध्याय में की जा रही है ।

हिंदी रंगमंच

साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा भारतीय नाटक परम्परा बहुत प्राचीन है । संस्कृत रंगमंच मृतप्राय हो जाने पर यह परम्परा कुछ क्षीण हो गयी थी । मध्यकाल में सिर्फ साहित्यिक नाटक लिखे गये । इस वक्त नाटक में रंग परम्परा का ह्रास हो गया था । अंग्रेजी शासन काल में इसमें परिवर्तन हुआ । अंग्रेजी शिक्षा के कारण नवीन ढंग से रंगकर्म और मंचीकरण के प्रयोग होने लगे । एक तरफ लोकनाट्य तो दूसरी तरफ फारसी थियेटर उभर रहा था । इसमें साहित्यिक नाटकों की भरमार थी साहित्यिक नाटकों की प्रस्तुति में अनेक कठिनाइयाँ आती रही । नाटक एक मनोरंजन का साधन समझा जाने लगा ।

सामान्य रूप से हिंदी नाटक के दो रूप हैं - साहित्यिक नाटक और रंगमंचीय नाटक । साहित्यिक नाटक काव्य से युक्त हैं । रंगमंचीय नाटक में रंगमंचीयता की ओर ध्यान दिया गया है । हिंदी नाटक की ये दो धाराएँ पृथक होकर प्रवाहमान रही हैं । हिंदी नाटक का इतिहास वास्तव में इन्हीं दो धाराओं का इतिहास है । अभिनय परम्परा में सिर्फ रंगमंचीय नाटकों का विचार किया जाता है ।

क] हिंदी नाटक में अभिनय का प्रारंभ :-

हिंदी अभिनय का प्रारंभ सन् १९३३ ई.के आस-पास भॉटगाँव (नेपाल) में अभिनीत 'विद्यानिवास' नाम के मैथिली नाटक से हो चुका था। इस काल में व्यावसायिक रंगमंच नहीं था ।

भारतेंदु ने अपने 'नाटक' निबंध में लिखा है कि हिंदी भाषा में जो पहला नाटक खेला गया , वह शितला प्रसाद त्रिपाठी कृत 'जानकी मंगल' (सन् १९६२ ई.) था । 'जानकी मंगल' नाटक की कथा तुलसी कृत 'रामचरितमानस' महाकाव्य के सीता-स्वयंवर प्रसंग की कथा पर आधारित है । नाटक के संवाद प्रायः खड़ीबोली में हैं । इसमें गद्य के साथ-साथ पद्य का व्यवहार पाया जाता है । नाटक में प्रस्तावना के अंतर्गत नाँदी , पाठ , सूत्रधार नट-नटी संवाद तथा नाटककार का नाटक खेलने का प्रस्ताव निहित है । प्रथम अंक में सीता के पार्वती पूजन तथा राम के प्रथम दर्शन से सीता की आसक्ति ; द्वितीय अंक में धनुर्भंग और सीता का राम द्वारा वरण तथा तृतीय अंक में लक्ष्मण-परशुराम संवाद तथा अंत में परशुराम के क्रोध एवं भ्रांति के निवारण की कथा है । अभिनेय नाटकों में 'इंदरसभा' (सन् १८५३ ई.) यह एक नाटक सबसे पुराना है । यह एक गीतिनाट्य है । नाटक उर्दू भाषा में लिखा गया है । 'इंदरसभा' का अभिनय बड़ी सफलता के साथ किया गया । इसके लेखक सैयद आगा हुसेन 'अमानत' (सन् १८१८-१८५८ ई.) हैं । इंदरसभा का अनुवाद कई भारतीय भाषाओं में हुआ है । जनता ने इस नाटक को बहुत पसंद किया । भारतेंदु ने इस नाटक को नाटकत्व-हीन माना है । मदारीलाल ने 'इंदरसभा' , 'छल बटाऊ' , 'मोहता रानी' (सन् १८५४ ई.) आदि नाटकों का निर्माण किया ।

ख] हिंदी अभिनय का विकास :-

हिंदी नाटक के अभिनय परम्परा को क्रमबद्ध सर्वेक्षण तथा परीक्षण करने के लिए उसे सोपानों में विभाजित करना आवश्यक है। इस दृष्टि से अभिनय परम्परा को चार युगों में विभाजित किया जाता है -

अ] भारतेंदु युग (शैशव काल) सन् १८६०से १८८५ ई. तक।

आ] प्रसाद युग (संधि काल) सन् १८८५से १९३० ई. तक।

इ] प्रसादोत्तर युग (प्रौढ़ काल) सन् १९३०से १९६०ई. तक।

ई] साठोत्तरी नाटक (प्रौढ़तर काल) सन् १९६०से १९८० ई. तक।

अ] भारतेंदु युग (शैशव काल):-

भारतेंदु को नाटक और रंगमंच से विशेष रुचि थी। सन् १८६८ ई. में भारतेंदु ने 'प्रवास' नाटक लिखना प्रारंभ किया। यह नाटक अप्राप्य है। भारतेंदु एक सशक्त नाटककार के रूप में सामने आए। उन्होंने कुल मिलाकर अठारह मौलिक-अनुदित नाटक लिखे हैं। भारतेंदु जी का रचनाकाल सन् १८६८ ई. से प्रारंभ होकर सन् १८८९ ई. तक चलता रहा। भारतेंदु नाटक के साथ-साथ अन्य रचनाओं का भी निर्माण करते रहें। भारतेंदु जी की प्रमुख नाट्य रचनाएँ इसप्रकार हैं -

i] अनुदित नाटक :- प्रवास, रत्नावली नाटिका, कर्पूर मंजरी, पाखंड विडंबन, धनंजय विजय, मुद्राराक्षस, दुर्लभ बन्धु आदि।

ii] रूपांतरित नाटक :- विद्यासुंदर, सत्य हरिश्चंद्र इत्यादी।

iii] मौलिक नाटक :- प्रेमजोगिनी, चंद्रावली, भारतजननी, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, सती प्रवास आदि।

iv] प्रहसन :- विषस्य विषमौषधम, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, अंधेरी नगरी आदि।

भारतेंदु नाटक इस साहित्यिक विधा में अभिनय को अंतर्निहित करने के पक्ष में थे। भारतेंदु की इस बात का परिचय 'नाटक' नामक निबंध में यत्र-तत्र मिलता है। भारतेंदु जी के



नाटक अभिनेय हैं क्योंकि नाटकों के निर्माण में इसका उन्होंने पूरा ध्यान रखा है। भारतेंदु के नाटकों में निम्नलिखित अभिनय तत्व दिखाई देते हैं -

१. अंक-दृश्य।
२. रंग सज्जा।
३. प्रकाश व्यवस्था।
४. अभिनय संकेत।
५. वेशभूषा।
६. गीत नृत्य।

भारतेंदु हरिश्चंद्र हास्य-विनोद प्रिय, जिंदादिल, परिधान-व्यसनी तथा स्वांगप्रिय रंगकर्मी हैं। उनका जीवन काव्य और नाटकियता से परिपूर्ण था। वे ऐसे प्रथम रचनाकार हैं, जिन्होंने गद्य शैली को अपनाकर प्राचीन परम्परा और आधुनिकता का सामंजस्य किया। उन्होंने कभी अनुदित नाटक और कभी मौलिक नाटक अनवरत रूप से हिंदी को दिये हैं। भारतेंदु जी के नाटकों के बारे में कहा गया है कि " भारतेंदु जी के नाटकों का अभिप्राय प्रायः काशी नरेश की सभा में होता था। सत्य हरिश्चंद्र, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, नीलदेवी, भारत दुर्दशा और अंधेर नगरी के कानपुर, बनारस, प्रयाग, बलिया, डुमराँव (बिहार), आगरा, काशी इत्यादी स्थानों में कई बार प्रयोग किये गये।"^९

नाटककार, रंगाभिनेता एवं नाट्याचार्य भारतेंदु हरिश्चंद्र खड़ी बोली के अव्यावसायिक रंगमंच के प्रवर्तक एवं गौरव सूर्य हैं। इनके नाटकों में कुछ कमियाँ हैं। स्वाभाविक है कि इस काल में नाटकों की शुरुआत हो गयी थी। यह समय प्रयोग काल का रहा है। विभिन्न प्रणालियाँ अथवा शैलियाँ पहले से मौजूद थीं, तो अन्य अनेक कठिनाइयाँ थी। भाषा का व्यावहारिक तथा निश्चित रूप अस्तित्व में नहीं था। भारतेंदु को राजनीतिक या सामाजिक प्रोत्साहन या सहायता नहीं मिली। ऐसे काल में रचना में कहीं कोई कमियाँ रह जाती हैं, तो उसे स्वाभाविक माना जायेगा।

नाटक की सफलता अभिनेयता पर आधारित होती है। नाटक में रंगमंच का स्थान महत्वपूर्ण होता है। इस बात को ध्यान में रखकर उन्होंने नाटक को रंगमंच तथा अभिनेयता प्रदान की। इनके नाटकों का साहित्यिक स्तर भी काफी ऊँचा है। भारतेंदु नाट्य कला से पूर्ण परिचित थे। उन्होंने दर्शकों की रुचि बढ़ाने हेतु अभिनय में कई प्रकार के सुधार किये। भारतेंदु जी ने अभिनय संबंधी स्पष्ट विचार रखा है कि जब नाटक में अभिनय नहीं होगा। तब नाटक का फल न के बराबर रहेगा।

लाला श्रीनिवास भावाभिनय को नाटक का मुख्य अंग मानते हैं। अभिनय वही श्रेष्ठ है, जिसमें सामाजिकों का यथार्थ का भ्रम हो। इस युग के प्रतिभासंपन्न नाटककारों में बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र का नाम लिया जाता है। यह काल पारसी थियेटर का 'सुवर्णकाल' था। जनता इनके प्रदर्शनों पर दूट रही थी। परंतु सहृदय एवं विद्वान इस अश्लील एवं कला विहीन प्रदर्शनों को दूषित मानते थे। इस परिस्थिति में युग की माँग के अनुसार नाटककारों ने जनता की रुचि को देखकर अभिनेय नाटक लिखना प्रारंभ किया। लोगों का मनोरंजन करना और उनकी रुचि में परिष्कार करना इनका मुख्य ध्येय था। इस युग में रचित अभिनेय नाटकों में बालकृष्ण भट्ट कृत 'नल दमयंती', 'शिक्षादान'; प्रतापनारायण मिश्र कृत 'रुक्मिणी परिणय', 'कंस वध', 'भारती हरण'; शालीग्राम कृत 'अभिमन्यु'; राधाकृष्ण दास कृत 'महारानी पद्मावती', 'महाराणा प्रतापसिंह'; बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' कृत 'वारांगना रहस्य'; काशीनाथ खत्री कृत 'सिंधु देश की कन्या' और 'गुजोर की रानी' आदि नाटक उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में स्थान-स्थान पर अभिनय, रंगमंच व्यवस्था एवं पात्रों की वेशभूषा संबंधी निर्देश दिये हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये नाटक अभिनेयता से युक्त हैं।

निष्कर्ष

भारतेंदु जी ने अभिनय की नई परम्परा की शुरुआत की। इसका विकास भारतेंदु युग के नाटककारों ने किया। सामान्यतः यह अभिनेय की दृष्टि से प्रयोग काल रहा है, अभिनेता

होने के नाते भारतेंदु ने अभिनय पर विशेष ध्यान दिया है। भारतेंदु के नाटकों में तकनीकी त्रुटियाँ दिखाई देती हैं। इस काल की त्रुटियों की ओर निर्देश करते हुए शांति मलिक कहती हैं "इनमें संदेह नहीं है कि भारतेंदु युगीन नाटकों में रंगमंच संबंधी कई दोष मिलते हैं, यथा कइयों में स्वगत कथनों की भरमार है, कुछ कृतियाँ संवादमात्र हैं, कुछ में वस्तुयोजना भी दोषपूर्ण तथा कइयों में भाषा का चिड़ियाघर संजोया गया है। इतना होते हुए भी इस युग की काफी कृतियाँ रंगमंचीय दृष्टि से सफल ठहरती हैं। वास्तविकता यह है कि अधिकांश नाटकों का सरल दृश्य विधान, व्यंग्यात्मक यथार्थवादी शैली, सरल-सीधी मुहावरेंदार भाषा, तथा इनमें निहित हास्य-व्यंग्य की मात्रा इन्हें अभिनेय बना देती है। पुनः दोषपूर्ण कृतियाँ भी आवश्यक सुधार करके रंगमंचोपयोगी बनाई जा सकती हैं।"⁹⁰

आ] प्रसाद युग (संधि काल):-

हिंदी नाटक साहित्य में जयशंकर प्रसाद का अविर्भाव एक नये युग का अवतरण माना जाता है। प्रसाद के उदय के साथ हिंदी नाटक साहित्य की वृद्धि कई दिशाओं में हुई। प्रसाद के नाटकों में रंगमंचीयता पर बड़ा प्रश्न चिह्न उठाया हुआ है। प्रसाद युग की रंगमंचीय गतिविधियों का मूल्यांकन प्रस्तुत किया है, जो अपर्याप्त और अधुरा है। प्रसाद दूरद्रष्टा थे। अतः उनकी दृष्टि विज्ञान की नित्य नई उपलब्धि और चमत्कारों को देखकर इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि विज्ञान की मदद के सहारे भविष्य में मंच को ही उनके नाटकों को उपयुक्त बनाया जा सके। आज के परिक्रामी और शकट रंगमंच पर उनके नाटकों के सफल प्रयोग किये जा सकते हैं। इस काल में व्यावसायिक रंगमंच और अव्यावसायिक रंगमंच ऐसी दो धाराएँ अस्तित्व में थीं। अव्यावसायिक रंगमंच का संबंध प्रसाद युग से था। प्रसाद और उनके समवर्ती नाटककारों की कृतियों का निर्माण इस युग में एक नवीन प्रयोग समझा जाता था। प्रसाद युग का अव्यावसायिक रंगमंच मुख्यतः बनारस, कानपुर, लखनऊ, प्रयाग, आगरा, छपरा, दरभंगा और कलकत्ते में ही केंद्रित रहा।

प्रसाद जी का रचना काल सन् १९१० ई. 'सज्जन' से आरंभ होकर सन् १९३३ ई. 'ध्रुवस्वामिनी' तक पहुँचता है। प्रसाद की नाट्य रचनाएँ क्रमानुसार - सज्जन (१९१० ई.), विशाख (१९१२ ई.), प्रायश्चित, राजश्री (१९१५ ई.), करुणालय (१९१८ ई.), अजात शत्रु, कामना (१९२२ ई.), जनमेजय का नाग यज्ञ (१९२६ ई.), स्कंद गुप्त (१९२८ ई.), चंद्रगुप्त, एक घूँट (१९३२ ई.) और ध्रुवस्वामिनी (१९३३ ई.) हैं।

अभिनेयता की दृष्टि से विचार करने पर पता चलता कि प्रसाद के अधिकांश नाटक असफल रह हैं। रंगमंच का ध्यान रखकर प्रसाद ने नाटक नहीं लिखे। उनमें कई ऐसी बातें हैं जिनको हम रंगमंच पर दिखा नहीं सकते। घटना विस्तार, दृश्यों की बहुलता, लम्बे-लम्बे संवाद, भाषा की क्लिष्टता, स्वगत कथन की भरमार आदि के कारण प्रसाद के नाटक केवल पाठ्य ही बन गये हैं; आलोचक प्रसाद पर यह आरोप करते हैं। ये आरोप किसी सीमा तक सत्य कहे जा सकते हैं। यथा-चंद्रगुप्त नाटक में ४४ दृश्य हैं। चंद्रगुप्त नाटक में युद्ध की अधिकता है। सिकंदर-पर्वतेश्वर के, मालवों-सिकंदर के तथा सिल्युकस और चंद्रगुप्त के युद्धों के लिए विशाल आयोजनों की आवश्यकता पड़ती है। दो प्रमुख व्यक्तियों के द्वंद्व दिखाने से वह प्रभाव उत्पन्न नहीं किया जा सकता, जो सेना के सामूहिक प्रदर्शन से डाला जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस नाटक में सिंधु, बिपाशा आदि नदियों के अनेकानेक दृश्य हैं, जिन्हें रंगमंच पर दिखाना असंभव है। नदियों में नौकाओं का चलना और पार जाने के दृश्य आये हैं। व्याघ्र को भी रंगमंच पर लाया गया है। सिल्युकस उसका वध रंगमंच पर ही कर देता है। अन्य नाटकों में भी इस प्रकार के दृश्य मिलते हैं।

प्रसाद के नाटकों में रंगमंच के अनुकूल अनेक गुण मिलते हैं। ऐसे दृश्य अभिनेयता की दृष्टि से अत्यंत सुंदर बन पड़े हैं, जिनका निर्देश कथानक के शीर्षक के अंतर्गत किया जाता है। सभी नाटकों में नाटकीय संघर्ष के स्थल बहुलता से मिलते हैं। ऐसे महत्वपूर्ण स्थल पग-पग पर मिलेंगे, जिसमें बाह्यसंघर्ष के साथ-साथ सात्विक अभिनय का प्रमुख स्थान रहता है। संवादों में निहीत अनेकरूपता स्वाभाविकता, लालित्य एवं प्रवाह आदि नाटकीय तत्व देखने मिलते हैं।

अंकों के आरंभ और अंत विशेष मनोहर एवं रोचक बन पड़े हैं। लघु अभिनय संकेत प्रायः सभी नाटकों में बहुलता से मिलता है। रंगनिर्देश एवं अभिनय-संकेत अभिनेताओं और निर्देशकों के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। विशाख, जनमेजय का नाग यज्ञ, अजात शत्रु तथा चन्द्रगुप्त में पात्र की मुद्रा और रंगसज्जा संबंधी संकेत प्राप्त होते हैं।

इस तरह स्पष्ट है कि प्रसाद के नाटक थोड़े परिवर्तन के साथ अभिनीत किये जा सकते हैं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि इन नाटकों के लिए उपयुक्त रंगमंच हो एवं शिक्षित कुशल अभिनेता हो तथा सुरुचिसंपन्न दर्शक हो। कारण यह है कि इनके नाटकों का स्तर काफी ऊँचा है। जब तक इनके स्तर के अनुकूल उच्चकोटि का रंगमंच, अभिनेता एवं दर्शक नहीं होगा, तब तक उनकी उच्च कलात्मकता एवं नाटकीय चमत्कार को देखा एवं परखा नहीं जा सकता। प्रसाद के विचारानुसार 'मेरी रचनाएँ तुलसीदत्त शैदा या आगाहश्र की व्यापारिक रचनाओं के साथ नहीं तोली जा सकती हैं। मैंने उन कम्पनियों के लिए नाटक नहीं लिखे हैं, जो चार चलते अभिनेताओं को एकत्र कर, कुछ पैसा जुटाकर, चार पर्दे मंगनी माँग लेती हैं और दुअन्नी-अठ्अन्नी के टिकट पर इक्केवाले, खोमचे वाले और दूकानदारों को बटोरकर जगह-जगह प्रहसन करती फिरता है। उत्तररामचरित, शकुंतला और मुद्राराक्षस नाटक कभी न ऐसे अभिनेताओं के द्वारा अभिनीत हो सकते हैं और न जनसाधारण रसोद्रेक के कारण बन सकते हैं। उनकी काव्य प्रधान शैली कुछ विशेषता चाहती है। यदि परिष्कृत बुद्धि के अभिनेता हो, सुरुचिसंपन्न सामाजिक हो और पर्याप्त द्रव्य काम में लाया जाए तो अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकत हैं।"⁹⁹

प्रसाद के समसामायिक नाटककारों में मुख्य रूप से सर्वश्री बदरीनारायण भट्ट, जी.पी. श्रीवास्तव, सुदर्शन, माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, मिश्र बन्धु, प्रेमचंद, रामनरेश त्रिपाठी, वियोगी हरि, विश्वम्भर शर्मा 'कौशिक' तथा माधव शुक्ल आदि को लिया जा सकता है। कई अन्य नाटककारों यथा- सेठ गोविंददास, उदयशंकर भट्ट, गोविंद वल्लभ

पंत , लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद' आदि प्रसाद युगीन कई नाटककारों में अभिनय परम्परा में उत्तरोत्तर विकास होता चला गया है ।

प्रसादयुगीन नाटकों में अभिनय :-

प्रसाद की स्वछंदतावादी कला में अभिनय के अनेक दोष थे । हरिकृष्ण प्रेमी , जगन्नाथ प्रसाद , गोविंददास आदि नाटककारों ने उनका परिहार किया और रंगमंचोपयुक्त नाटक लिखने का प्रयास किया । प्रसाद के नाटकों में रंगमंच पर हत्याएँ करायी जाती हैं , संवादों में अस्वाभाविकता और भावुकता रहती है । प्रेम की अभिव्यक्ति में लम्बे-लम्बे संवाद कराये जाते , कल्पना में उन्माद भरा जाता है । इस अतिरंजना से नाटक की अभिनेयता में बाधा पड़ती है , किंतु प्रसाद की नाट्यकला 'ध्रुवस्वामिनी' तक आते-आते यथार्थवादी और रंगमंचोपयुक्त हो गयी है । प्रसाद युग के प्रारंभिक नाटकों का कथानक जटिल विस्तृत और दृश्य विधान उलझनों से भरा रहता था , किंतु इस युग के कथानक सीधे-सादे , सहज और बोधगम्य होते चले गये । पात्रों की संख्या कम हो गयी और नाटक के शरीर में एक स्फूर्ति , क्रांति और चुस्ती आ गयी और स्वस्थ शरीर में ताजे रक्त की लालिमा फैल गयी। नाटकों के अंक और दृश्य कम होते चले गये ।

गोविंद वल्लभ पंत जी का 'वरमाला' नाटक अभिनय की दृष्टि से सफल नाटक है । स्वयं अच्छे अभिनेता होने के कारण उन्होंने अभिनय की दृष्टि से सभी 'टेकनिक' यथा स्थान नियोजित किये हैं । इसमें केवल तीन अंक हैं । दृश्य विधान अधिक नहीं है । जटिल भी नहीं है । इसमें पात्रों की भरमार नहीं है । केवल दो पात्र प्रमुख हैं , चार पात्र गौण हैं । गीतों की योजना प्रसंगानुकूल है । अभिनय में जटिलता या अस्पष्टता नहीं है । दर्शक को 'वस्तु' समझने में कठिनाई न होगी । यह नाटक कई बार अभिनीत हो चुका है । कंजूस की खोपड़ी (१९२३ ई.) राजमुकुट (सन् १९३५ ई.) और अंगार की बेटी आदि नाटक प्रसाद युग में लिखे गये हैं ।

जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद' का 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक भी अभिनेय है और रंगमंच के लिए लिखा गया है। इनके सभी नाटक अभिनेय हैं। कथा सुलझी हुई और सरल है। पात्रों की संख्या कम है। सभी पात्र पुरुष हैं। अप्रत्यक्ष रूप से दो स्त्री पात्र नाटक में आ जाते हैं। जगन्नाथ प्रसाद द्वारा लिखित 'जनतंत्र' में अभिनय प्रयोग है।

निष्कर्ष

अभिनेयता की दृष्टि से प्रसाद युग की नाट्य कला में क्रमिक विकास हुआ है। स्वछंदतावादी भावुकता से वह यथार्थवादी बौद्धिकता की ओर अग्रेसित होती रही है। परम्परागत व्यावसायिक रंगमंचों की दृष्टि से ये नाटक सफल नहीं हो सकते किंतु उच्चस्तरीय काव्यात्मक प्रतिभा वाले इन नाटकों में अव्यावसायिक रंगमंचों की उपेक्षा की है। भारतेन्दु के बाद बड़ी गति के साथ अभिनय की दृष्टि से नये-नये प्रयोग किये गये।

इ] प्रसादोत्तर युग (प्रौढ़ काल):-

हिंदी साहित्य के दो प्रतिभा-संपन्न महान कृतिकार भारतेन्दु और प्रसाद हैं। इन दो प्रतिभाओं का ऐतिहासिक महत्व है, क्योंकि भारतेन्दु यदि खड़ी बोली के मौलिक नाटकों के निर्माता है, तो प्रसाद उन्नायक। प्रसादोत्तर काल का नाटक साहित्य समृद्ध एवं विशाल है। वह पर्याप्त विविधता रखता है। वास्तव में प्रसाद के बाद हिंदी साहित्य में एक नवीन युग का आरंभ होता है। यह युग विशुद्ध और उच्चस्तरीय नाटकों का युग है। इस समय नाटककारों ने विभिन्न नवीन नाट्य शैलियों का विकास किया। वस्तुतः वर्तमान युग की प्रवृत्तियों, परिस्थितियों और जीवन की वास्तविकताओं ने जहाँ भावभूमि के नए क्षेत्र उद्घाटित किए, नई समस्याओं एवं प्रश्नों को जन्म दिया, वहाँ विविध प्रयोगों के लिए भी मार्ग प्रशस्त किया।

प्रसाद जी के रंगमंच के बारे में अनेक मतप्रवाह मौजूद रहे हैं। खुद प्रसाद मानते थे कि नाटक सिर्फ रंगमंच के लिए नहीं लिखे जाते। रंगमंच नाटक के लिए होने चाहिए। यही व्यावहारिक होगा। प्रसाद का मत पीछे पड़ गया। प्रसादोत्तर युग में पूरी तरह से रंगमंच और

अभिनय को ध्यान में रखकर ही नाटक की रचना हुई। इस युग के श्रेष्ठ नाटककारों ने अपने नाटकों की रचना मुख्य रूप से रंगशालाओं, दर्शकों के सम्मुख प्रदर्शित करने के लिए ही की थी। इस वक्त जीवन आदर्श बदलने से नाटक और रस की मान्यता भी बदली। रचनाशीलता के समानांतर ही समीक्षा में भी एक उन्मेष दिखाई दिया। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि नाटक की अभिनेयता और प्रयोगशीलता का यह भी पक्ष भारतीय नाट्य पद्धति में सबल और पूर्ण बन गया। नाट्यशास्त्र में अभिनेयता और रंगशाला के अतिरिक्त दर्शक एवं समाज पर भी विचार किया गया। भारतीय नाट्य परम्परा में नाटक को एक सामाजिक और संपूर्ण कला के रूप में स्वीकार किया गया। आज प्रत्येक देश में संपूर्ण रंगमंच की खोज हो रही है। स्वतंत्रता के बाद हमारे देश में भी रंगमंच की खोज हो रही है। इसी काल में रंगमंच के साथ-साथ हिंदी नाट्यलेखन का झुकाव रंगमंचीयता की ओर हुआ है।

प्रसादोत्तर युग के नाटक अधिकतर रंगमंच और अभिनय आदि बातों को सम्मुख रखते हुए लिखे गये हैं। इस काल के प्रमुख नाटककार-सेठ गोविंददास, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेंद्रनाथ 'अशक', लक्ष्मीनारायण लाल, रामकुमार वर्मा, जगदीशचंद्र माथुर और मोहन राकेश आदि हैं।

सेठ गोविंददास ने 'पतित सुमन', 'संतोष कहाँ', 'प्रेम और पाप', 'महत्व किसे', 'अमीरी या गरीबी', 'सुख किसमें', 'प्रकाश', 'सिद्धांत स्वातंत्र्य', 'सेवापथ-विकास', 'दलित कुसुम', 'त्याग या ग्रहण', 'पाकिस्थान', 'दुःख क्यों', 'बडा पापी कौन', 'हिंसा या अहिंसा', 'भूदान यज्ञ', 'विश्वप्रेम' आदि नाटक लिखे हैं।

सभी नाटकों में स्थान, समय, वेशभूषा, रंगसज्जा तथा वातावरण संबंधी विस्तृत रंगसंकेत दिए गए हैं। संतोष कहा, महत्व किसे, पतित सुमन आदि नाटक अभिनीत किये जा सकते हैं, क्योंकि उनमें साजो-सामान अधिक नहीं है। जिसके कारण इसके दृश्य परिवर्तन सहज रूप में किए जा सकते हैं। इसके सभी दृश्य विशेष कर चौथे अंक के आरंभ और अंत तथा उपसंहार के सांकेतिक दृश्य या तो चित्रपट की वस्तु है या यांत्रिक रंगमंच के सहारे ही

रंगमंच के सहारे इनका प्रदर्शन किया जा सकता है। इस संदर्भ में भगवती प्रसाद शुक्ल कहते हैं कि "गरीबी और अमीरी, जलयान के दृश्य भी फिल्म या चित्रपट पर ही दिखाए जा सकते हैं। यदि आज के किसी असाधारण रंगमंच पर इसका अभिनय किया जाए तो इस नाटक में निहित स्वगतों में निरंतर चलने वाले टूटे वाक्यों का स्वाभाविक एवं अनुभवपूर्ण अभिनय केवल अत्यंत कुशल एवं अनुभव अभिनेता ही कर सकता है।"⁹³

सेठ गोविंद दास के सभी नाटक रंगमंच को सामने रखकर निर्माण किये गए हैं। यही कारण है कि इनके अधिकांश नाटक अभिनेय हैं, इनमें से कई नाटक सफलतापूर्वक रंगमंच पर अभिनीत हो चुके हैं। यथा 'विश्वप्रेम' नाटक 'शारदा भवन पुस्तकालय' के वार्षिकोत्सव के समय में, जबलपुर के 'मित्रमंडल' नामक 'एमेच्योर नाटक समाज' द्वारा खेला गया। 'सेवापथ' नाटक का अभिनय लेखक के निर्देशन में दो बार सफलतापूर्वक किया जा चुका है। इनके नाटक 'दलित कुसुम' की कथा पर आधारित फिल्म भी बन चुकी है।

प्रसादोत्तर काल के हरिकृष्ण प्रेमी एक प्रसिद्ध नाटककार हैं। इनके कुछ नाटक इस प्रकार हैं - 'शपथ', 'सीमा संरक्षण', 'शिवसाधना', 'प्रतिशोध', 'आहुति', 'स्वप्न भंग', 'मित्र विषपान', 'उद्धार', 'प्रकाश स्तंभ', 'भग्न प्राचीर', 'सांपो की दृष्टि', 'अमर आन', 'छाया', 'बंधन' आदि।

अभिनेयता की दृष्टि से प्रेमी जी के नाटक प्रसाद के नाटकों के समीप हैं। दृश्य अधिक हैं, पात्रों की संख्या अधिक हैं। प्रेमी जी के प्रारंभिक नाटकों में पात्रों की संख्या अधिक थी, पर धीरे-धीरे नाटकों में पात्रों की संख्या कम हो गई। प्रेमी जी के नाटकों की भाषा प्रसाद जैसी एक-सी नहीं है। 'छाया' में मध्यवर्गीय गृहस्थी का कमरा है तो दूसरी ओर ग्राम की झोपड़ी। शेष सभी दृश्य नूरजहाँ के मकबरे, बाग, नदी और अन्य जगह हैं, जिनका प्रदर्शन पटों की सहायता से हो सकता है। 'बंधन' में भी एक गरीब की झोपड़ी है तथा दूसरी ओर खजान जी राम का सजाया हुआ बंगला। शेष सभी दृश्य बाहरी हैं। इन दोनों रचनाओं के प्रत्येक दृश्य में स्थान और समय का निर्देश दिया है। उदयशंकर भट्ट इसी परंपरा में आने वाले नाटककार

हैं। उन्होंने 'विक्रमादित्य', 'मुक्तिपथ', 'शक विजय', 'कमला', 'विद्रोहिणी अम्बा', 'सागर विजय', 'कामना', 'अंतहीन', 'अंतर', 'क्रांतिकारी', 'नया समाज', 'पार्वती' आदि नाटक लिखे हैं।

अभिनय की दृष्टि से मुक्ति पथ और शक विजय सफल रचनाएँ हैं। इनमें नाट्य तंत्र संबंधी त्रुटियों के अतिरिक्त दृश्य विधान की त्रुटियाँ भी मिलती हैं। 'सागर विजय' तथा 'विद्रोहिणी अम्बा' अभिनेयता की दृष्टि से असफल नाटक कहे जा सकते हैं। 'सागर विजय' में दृश्य विधान दोषपूर्ण हैं। दृश्यों के आकार और पात्रों के प्रवेश-प्रस्थान के क्रम पर बहुत ध्यान रखा गया है। बाकी के नाटकों में अभिनय संकेत, रंगमंच की आवश्यक सामग्री पात्रों की वेशभूषा आदि के विवरण दिए गए हैं। ये नाटक रंगमंच पर सफलता से अभिनीत किये जा सकते हैं।

प्रसादोत्तर युग में आनेवाले और एक नाटककार हैं- लक्ष्मीनारायण मिश्र। इन्होंने अनेक ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, पौराणिक और वैयक्तिक समस्यामूलक नाटक लिखे हैं। इनके नाटकों में 'अशोक', 'गरुडध्वज', 'वत्सराज', 'दशाश्वमेघ', 'वितस्तता की लहरें', 'नारद की वीणा', 'चक्रव्यूह', 'संन्यासी', 'राक्षस का मंदीर', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग', 'सिंदूर की होली', 'रात' आदि हैं।

मिश्र के नाटक नाट्य कला की दृष्टि से उत्तम बन पड़े हैं। इनकी आधार भूमि अच्छी, दृढ़ एवं संयत है। घटना-योजना अच्छी स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक बन पड़ी है। अधिकांश कृतियों में कार्य व्यापार कौतुहल और जिज्ञासा आदि तत्वों के साथ-साथ बौद्धिक संघर्ष की अच्छी प्रतिष्ठा हुई है। इनके नाटकों का आधारभूत तत्व संवाद है। संवाद अत्यधिक सशक्त, प्रभावोत्पादक एवं पात्रों के अंतर्जगत को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ है। नाटककार ने अपनी ओर से प्रत्येक अंक के पूर्व रंगसज्जा पात्रों का रुपरंग वेशभूषा उनकी भाव-भंगिमा तथा प्रवेश-प्रस्थान आदि का वर्णन किया है। यही विशेषताएँ रचनाओं को अभिनयोपयुक्त बना देती हैं।



इनका सर्वश्रेष्ठ नाटक 'सिंदूर की होली' रंग-संकेतों तथा अन्य नाटकीय गुणों की दृष्टि से संपन्न है। 'राजयोग', 'संन्यासी', 'मुक्ति का रहस्य' भी अभिनेयता की दृष्टि से काफी ढंग से संघटित है।

उपेंद्रनाथ अशक के नाटकों में साहित्यिक उत्कृष्टता के साथ-साथ अभिनेयता भी आवश्यक दिखाई देती है। इसका कारण यह है कि वे एक उत्कृष्ट नाटककार होने के साथ सफल अभिनेता और निर्देशक भी रहे हैं। उन्हें वर्तमान काल के सभी रंगमंचों का प्रत्यक्ष अनुभव है। रंगमंच विकास में अशक जी को गहरी संवेदना है। राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण हेतु उन्होंने विविध सुझाव दिए हैं, जो विशेष महत्व रखते हैं।

अशक जी ने 'भँवर', 'स्वर्ग की झलक', 'छठा बेटा', 'उड़ान', 'अंजो दीदी', 'पैतरे', 'अलग-अलग रास्तें', 'जय-पराजय' आदि नाटक लिखे हैं। 'अलग-अलग रास्तें', 'छठा बेटा', 'उड़ान' आदि में स्थान और कार्य की एकता का सहज निर्वाह हुआ है। इनके संपूर्ण कार्य व्यापार एक ही कमरे में संपन्न होते हैं। किंतु पाठक उक्ताहट महसूस नहीं करता। पात्रों को थोड़ा आराम मिल जाए; इसी कारण बीच में तीन-चार बार पटाक्षेप किया गया है। ये सभी नाटक थोड़े उपकरणों और पात्रों की सहायता से बिना किसी कठिनाई के एक ही कमरे की सेटिंग में सफल ढंग से प्रदर्शित किये जा सकते हैं। इन कृतियों में संवाद से अलग और संवाद के साथ दिए गए रंग-संकेत बड़े उपयुक्त, स्पष्ट, सुलझे हुए हैं। दृश्य विधान भी काफी वर्णनपूर्ण है। अशक जी के नाटकों में रंग संकेतों के अतिरिक्त अभिनय दृश्य व संवाद प्रचुर मात्रा में है।

प्रयोगशील नाटककार के रूप में डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उनके नाटकों के वस्तु-चयन शिल्प शैली आदि में नवीनता और विभिन्नता है। लक्ष्मीनारायण लाल निरंतर नये प्रयोग करते रहे हैं।

'मादा कैक्टस', 'तोता-मैना', 'रक्तमाल', 'रातरानी' आदि नाटक लाल जी ने लिखे हैं। नाटकीय शिल्प एवं रंगमंच के क्षेत्र में से रचनाएँ एवं क्रांति उपस्थित करते हैं। टेकनिक की दृष्टि से ये सर्वथा नये प्रयोग हैं। भावनाओं, आदर्शों एवं विचारों की नींव पर टिके इन नाटकों

में संकेतात्मकता (प्रतीकात्मकता) अत्यंत गहरी है। वही पात्रों की रूपरेखाएँ स्पष्ट हैं। लाल के पात्र जीते-जागते पात्र हैं। हमारी मनोवैज्ञानिक अनुभूतियों, सबलताओं, दुर्बलताओं एवं कुंठाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन संपूर्ण रचनाओं में दी गई रंग-सूचनाएँ अत्यंत कलापूर्ण हैं और रचयिता की कल्पना गहरी सूझ-बूझ एवं अंतर्दृष्टि का परिचायक हैं। अतः लाल जी के नाटक पूर्णता अभिनेय हैं।

डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'कला और कृपान', 'नाना फडनवीस' आदि ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं। अभिनय परंपरा की उँचाई पर आने वाले जगदीशचंद्र माथुर हैं। उनके 'कोणार्क', 'शारदीय', 'पहला राजा' ये नाटक अधिक प्रसिद्ध हैं। अभिनय की कसौटी पर पूर्णता: खरे उतरने वाले ये नाटक हैं।

प्रसादोत्तर युग में अनेवाले चंद्रगुप्त विद्यालंकार, वृदावनलाल वर्मा आदि नाटककार हैं। इनके नाटक थोड़े-से परिवर्तन के साथ रंगमंच पर खेले जा सकते हैं।

ई] साठोत्तरी नाटक (प्रौढतर काल):-

हिंदी नाटक को स्वाधिनता के पश्चात अनुकूल वातावरण प्राप्त हो गया। नाटक के स्वरूप-विकास में परिवर्तन होने लगा। जब नाटक की रचना होती है; मगर उसका प्रदर्शन नहीं होता, तब तक रंगमंच की दृष्टि से उनमें कौन-सी विशेषताएँ हैं? कौन-सी त्रुटियाँ रह गई हैं? इसका पता नहीं चलता। नाटक को साठोत्तरी काल तक जनता और शासन का अवरोध जारी रहा। इसी समय आर्थिक सहयोग एवं पुरस्कार देने के लिए अनेक संस्थाएँ बनी तो हिंदी अभिनय परंपरा को स्वरूप देने वाले नाटक लिखे जाने लगे। उसके बाद विविध स्तर पर नाट्य प्रदर्शन आरंभ हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदी में अभिनेयता की दृष्टि से अनेक श्रेष्ठ नाटक लिखे गये। जगदीशचंद्र माथुर के 'कोणार्क', 'शारदीया' और 'पहला राजा' नामक नाटक अभिनेयता को दिशा देते हैं। नाटककार मोहन राकेश का उदय हुआ। राकेश जी के 'लहरों के राजहंस', 'आषाढ का एक दिन' और 'अंधेरे बंद कमरे' आदि नाटकों में आधुनिक रंगचेतना और अभिनय भरा है। साठोत्तरी काल में अभिनेयता की दृष्टि से लक्ष्मीनारायण

लाल जी के नाटक महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने अपने 'सूर्यमुख', 'अब्दुला दीवाना', 'एक सत्य हरिश्चंद्र' और 'यक्ष प्रश्न' आदि नाटकों में अभिनेयता को नया रूप देने का प्रयास किया है।

साठोत्तरी हिंदी नाटक के विकास में सबसे पहले जगदीशचंद्र माथुर और मोहन राकेश इन दोनों का नाम लिया जाता है। आधुनिक नाटक में मोहन राकेश का नाम सबसे ऊपर है। हिंदी नाटक को मोहन राकेश ने सही दिशा दी है। सन् १९६० ई. के बाद राकेश जी ने 'लहरों के राजहंस' और 'आधे अधुरे' नाटक लिखकर हिंदी रंगमंच को परिवर्तन के बीच लाकर खड़ा कर दिया। राकेश के नाटकों में अनेक विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। इनके नाटकों में कथ्य की नवीनता, पात्रों की नवीन कल्पना, संवादों में व्यंग्यात्मकता रंगमंच और अभिनय के लिए अपूर्व संभावनाओं के दर्शन होते हैं। लहरों के राजहंस नाटक में कथा और चरित्र के माध्यम से आत्म-संघर्ष का जो नाटकीय ताना-बाना बुना है। वह अभिनय की दृष्टि से प्रभावशाली सिद्ध होता है। अभिनय की नयी सुविधाओं और व्यवस्थाओं के कारण रंगकर्मी के लिए नाटक ग्राह्य बन चुका है। यह नाटक अभिनय की अनेक प्रवृत्तियों का पुरस्कर्ता है। मोहन राकेश के 'आधे अधुरे' नाटक का प्रकाशन सन् १९६९ ई. में हुआ। यह नाटक रंगमंच पर अनेक बार अभिनीत हो चुका है। यह बहुत लोकप्रिय नाटक रहा है। राकेश के नाटक में प्रचलित रुढ़ियों का अभाव है। उनकी अपनी नाटकीय परिकल्पना होती है। दृश्य-बंध, मंच-सज्जा, प्रकाश और ध्वनि प्रभावों का प्रयोग आदि को लेखक ने बहुत महत्वपूर्ण माना है। वह नाटक को शास्त्रीय सिद्धांत से मुक्त करना चाहते हैं। उनके रंग निर्देश में पर्याप्त सादगी नजर आती है। 'आधे अधुरे' नाटक अभिनय के लिए नई संभावना प्रस्तुत करता है। अतः यह नाटक अभिनेयता की दृष्टि से महत्वपूर्ण उपलब्धि सिद्ध होती है।

जगदीशचंद्र माथुर उच्चश्रेणी के नाटककारों में सम्मानित हैं। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाट्य आंदोलन का आरंभ माथुर जी के 'कोणार्क' नाटक से माना जाता है। सन् १९५९ ई. में प्रकाशित 'शारदीय' नाटक तुलना में अभिनेयता की संभावना से भरा हुआ और प्रभावशाली है। 'पहला राजा' नाटक का प्रकाशन सन् १९६९ ई. में प्रकाशित हुआ। इसमें संस्कृत नाटक की

भांति नटी और सूत्रधार का प्रयोग किया है। अभिनेयता की नवीन दृष्टियों का प्रयोग इस नाटक में किया है। रंग निर्देश के पर्याप्त संकेत दिए गए हैं। प्रकाश और ध्वनियों की समुचित व्यवस्था की है। पात्रों के संवाद सीधे-सरल हैं। संवादों में संकेतात्मकता मिलती है। नाटक में तीन अंक हैं। जो समकालीन रंगमंच की स्थिति के विपरित है। इस नाटक में कल्पना की अधिकता है इसके कारण अभिनय का प्रभाव कम होने की संभावना बनी रहती है।

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के कुछ नाटक सन् १९६० ई.के पहले लिखे गये थे। पर सन् १९६०ई. के बाद लिखे नाटकों ने ही उन्हें यश दिलाया है। उनके साठोत्तरी नाटक- 'सूर्यमुख', 'कलंकी', 'मिस्टर अभिमन्यु', 'अब्दुला-दिवाना', 'कफर्यू', 'एक सत्य हरिश्चंद्र', 'नरसिंह कथा', 'गंगा माटी', 'अंधा-कुँआ', 'यक्ष प्रश्न', 'कथा-विसर्जन' आदि हैं। उन्होंने अभिनय और रंग-निर्देशन का पूरा ध्यान रखा है। लाल जी रंगमंच के विविध प्रयोगों का ध्यान रखते हुए श्रेष्ठ नाट्य कौशल्य का परिचय देते हैं।

शंकर शेष के 'फंदी', 'बंधन अपने-अपने', 'खजुराहो का शिल्पी', 'रक्तबीज', 'एक और द्रोणाचार्य', 'कोमल गंगाधर', 'बाढ़ का पानी', 'रत्नप्रभा' आदि नाटक अभिनय से परिपूर्ण हैं। शंकर शेष नाटक और अभिनय को अलग-अलग स्तर पर रख कर नहीं देखते। यह उनके नाटक की सबसे बड़ी विशेषता है। उन्होंने अपने नाटकों के अनुकूल रंगमंच का निर्माण किया है।

सुरेंद्र वर्मा ने हिंदी के लघु नाटकों का निर्माण किया है। वह इसप्रकार- 'सेतुबंध', 'नायक खलनायक और विदुषक', 'द्रोपदी' आदि हैं। वर्मा जी का 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की अंतिम किरण तक' नाटक संपूर्ण है। इस अभिनेय नाटक से उन्होंने ख्याति अर्जित की है। सुरेंद्र वर्मा के नाटक अभिनय की दृष्टि से सफल रहे हैं। उन्होंने कथावस्तु और पात्रों में प्रभाव भर दिया है और हिंदी अभिनेय नाटकों को नई दिशा प्रदान की है तथा रंगमंच के लिए रंग-चेतना का उपयोग किया है।

मुद्राराक्षस का साठोत्तरी रंगमंचीय और अभिनेय नाट्य साहित्य में विशेष स्थान है । उन्होंने 'योर्स फेथफुली' , 'मरजीवा' , 'तिलचट्टा' , 'तेंदुआ' , 'गूफाएँ' आदि नाटक लिखकर हिंदी नाट्य साहित्य के विकास में अपना योगदान दिया है ।

गिरिराज किशोर कृत 'बादशाह-गुलाम-बेगम' , 'हम रोशनी बाँटते हैं' , 'प्रजा ही रहने दो' , 'घोडा और घास' , 'चेहरे कितने चेहरे' आदि अभिनेय नाटक हैं । भीष्म साहनी कृत 'हानूश' , 'कबिरा' खडा बजार में' , 'माधवी' आदि नाटक लिखे हैं । 'हानूश' नाटक के संवादों में निरर्थक विस्तार हुआ है, जिससे अभिनय के लिए काट-छाँट आवश्यक हो जाती है । 'कबिरा' खडा बजार में' एक ऐसा नाटक है , जो रंगमंच पर अभिनय की दृष्टि से सफल सिद्ध रहा है । इस नाटक का रंग-विधान बहुत सरल और सहज है । पात्र और संवाद नाटकीयता पूर्ण हैं । रंग-संकेत बहुत सटीक है तथा भाषा से सांकेतिकता एवं सरलता स्पष्ट झलकती है । 'कबिरा' खडा बजार में' नाटक का अभिनेय नाटकों में महत्वपूर्ण स्थान है ।

हमीदुल्ला के 'उलझी आकृतियाँ' , 'दरिन्दे और उत्तर उर्वशी' आदि नाटकों में सामायिक जीवन और रंगमंच का समन्वय किया है । 'उलझी आकृतियाँ' नाटक में प्रकाश-परिवर्तन और ध्वनि-प्रभावों के द्वारा अभिनय में तीव्रता लाई गई है। मूकाभिनय का काल्पनिक प्रयोग किया है। हास्य और व्यंग का समावेश अभिनय को प्रभावशाली बनाता है। इसमें सूत्रधार का प्रयोग भी किया गया है। छोटे संवाद और शब्दों की लय से नाटक के अभिनय में सजीवता आई है। नाटक में रंगशैली की विविधता मिलती है। मंच पर कठपुतली-संगीत से वातावरण रोचक बना है ।

हिंदी रंगमंच के लिए अभिनेय नाटक लिखने वाले कुछ अन्य नाटककारों का उल्लेख करना आवश्यक है । अमृतराय ने 'चिन्दहयों की एक झालर' , 'शताब्दी' , 'हमलोग' आदि नाटक लिखे । विपिन कुमार ने 'तीन अपाहीज' , 'लोटन' और 'खोये हुए आदमी की खोज' नामक अभिनेय नाटक लिखकर इस परंपरा को समृद्ध बनाया । मणि मधुकर लिखित 'रसगंधर्व' , 'बुलबुल सराय' , 'दुलाईबाई' , 'खेला पोलामपुर' , 'इकतारे की आँख' आदि नाटक रंगमंच और अभिनेयता के लिए प्रसिद्ध हैं ।

निष्कर्ष

आजादी के बाद सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की ओर लेखकों का ध्यान गया। तब रंगमंच अभिनय और नाटक के संबंध की आवश्यकता महसूस की गई। नगरों में नाट्य समितियाँ बनीं। रंगमंच का निर्माण होने लगा। इससे अभिनेय नाटक लिखने की प्रेरणा लेखकों को मिल गई। सन् १९६० ई. के आस-पास नाटक, रंगमंच और अभिनय के निकट आ गया। साठ के बाद हिंदी नाटक को नई दिशा प्राप्त हो गई।

हिंदी रंगमंच का सर्वाधिक विकास सन् १९६० ई. के बाद ही हुआ है। अनेक नाटककार सामने आये और उन्होंने सबसे श्रेष्ठ नाटक हिंदी को दिए। अभिनय की दृष्टि से ये सभी नाटक बहुआयामी प्रतीत होते हैं। इस काल के नाटकों में लोक रंगमंच और शास्त्रीय परंपरा का समिश्रण किया गया है। सन् १९६० ई. के पश्चात लिखे अभिनेय नाटकों से हिंदी रंगमंच का विकास हुआ है। मोहन राकेश और लक्ष्मीनारायण लाल ने इसमें अपना विशेष योगदान दिया है। इनके अतिरिक्त सुरेंद्र वर्मा, भीष्म साहनी, मुद्राराक्षस, शंकर शेष, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, मणि मधुकर, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, हमीदुल्ला, मुर्दुला गर्ग आदि नाटककारों के नाम साठोत्तरी नाटक में सम्मिलित किये जाते हैं।

अभिनय में सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का योगदान :-

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने हिंदी नाट्य साहित्य की कम सेवा की है। फिर भी अभिनय की दृष्टि से उनका योगदान अनमोल माना जायेगा। उन्होंने जितने सारे नाटक रचे हैं, वे मील का पत्थर माने जाते हैं। अपने नाटकों में उन्होंने पारसी और नौटंकी रंग-शैलियों का प्रयोग किया है। नौटंकी में जिस तरह नगाड़ा बजाना, गायन और नृत्य, गजल, कव्वाली और फिल्मी धूनों का उपयोग किया है। सर्वेश्वर ने इन सभी बातों का प्रयोग अपने पूर्ववर्ती नाटककारों की अपेक्षा अधिक अच्छा किया है। इनकी रंग-शैली में अभिनय और बीच-बीच में तुकबंदी भरे संवाद दिखाई देते हैं।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना द्वारा व्यक्त सांकेतिकता और व्यंग्यात्मकता उनके नाटकों को आधुनिक रंगमंच नाटकों के निकट ले जाती है। उनके नाटकों में प्रतीक और संकेत बहुत सरल मिलते हैं। नाटक के लिए विशेष प्रकार के रंगमंच की कल्पना नहीं पड़ती। सर्वेश्वर ने अपने नाटकों में आधुनिकता का परिचय दिया है। रंगमंच की कल्पना करने की जरूरत नहीं है। इसलिए उनके नाटक जिवंत लगते हैं। सर्वेश्वर के नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने नाटकों नाटक में अलग-अलग शैलियों का प्रयोग किया है। उन्होंने अपने नाटकों में संगीत और नृत्य की स्थापना की है। अभिनय में संगीत नृत्य की भूमिका अहम् होती है। इस वक्त संगीत और नृत्य की धारा लुप्त होती जा रही थी ; सक्सेना जी ने उसे पुनर्जिवित किया। वे नाटक को शहर से देहात की ओर ले जाना चाहते थे। उन्होंने नाटकों को ग्रामीण लोगों तक पहुँचाने का सबसे बड़ा कार्य किया है। यही कारण है कि सक्सेना के नाटक आम जनता में लोकप्रिय हो गये हैं।

निष्कर्ष

हिंदी में नाटक लिखने की परंपरा भारतेंदु हरिश्चंद्र के पूर्व से है। लेकिन हिंदी साहित्य में सही अर्थ में नाटक लिखने की परंपरा भारतेंदु से शुरू हो गई। इसलिए भारतेंदु हिंदी के प्रमुख नाटककार हैं। उन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्यतंत्र का प्रयोग किया। इसी आधार पर नाटक की रचना की। इसमें अनेक नाट्य रूपों का, तंत्रों का परिचय कराना उनका उद्देश्य रहा है। भारतेंदु का यह काल अभिनय की दृष्टि से प्रयोग काल रहा है। इसे नाटक का शैशव काल कहा जा सकता है। भारतेंदु युगीन नाटककारों ने भारतेंदु के नाटक का आदर्श रखा। यही अभिनय परंपरा आगे बढ़ती तो हिंदी नाटकों के अभिनय एवं रंगमंच में अत्याधिक विकास होता जैसा मराठी, बंगला भाषा के नाट्य धारा का हो गया।

प्रयोग काल के बाद नाट्य साहित्य में जयशंकर प्रसाद का आगमन हो गया। प्रसाद काल को संधिकाल कहा जाता है। इस काल में अभिनय एवं रंगमंच की गति बिल्कुल रुक-सी गई। प्रसाद ने नाटक को साहित्यिक उँचाई प्रदाना की। इसी से उनका ध्यान रंगमंच और

अभिनय की तरफ से हट गया । इसका परिणाम कुछ ऐसा हुआ कि प्रसाद के बाद के नाटकों में साहित्यिक परंपरा निरंतर बढ़ती गयी । रंगमंचहीन परंपरा से रंगमंच सहित परंपरा पर आने में समय लगा ।

प्रसादोत्तर काल में पाश्चात्य नाट्य शैली तथा विद्वानों का प्रभाव बढ़ने लगा है । इस प्रभाव के परिणाम स्वरूप अब नाटक केवल अभिनेय और रंगमंच को सामने रखकर लिखने लगे । प्रसादोत्तर काल में नाटक में अभिनय का प्रौढ़त्व प्राप्त हो गया । इस काल को प्रौढ़ काल कहा जा सकता है । इस काल में अभिनय और रंगमंचीयता का महत्व और अधिक बढ़ गया है ।

हिंदी नाटक में अभिनय का चरमोत्कर्ष साठोत्तरी नाटक में हुआ है। यह काल प्रौढ़तर काल नाम से पहचाना जाता है । आधुनिक साधनों , साजों , सामान से रंगमंच परिपूर्ण हो गया। अभिनय की धारा विकसित होकर उसका गति के साथ बहना शुरू हो गया । इस गतिशील धारा साठोत्तरी काल में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना जी ने का योगदान विस्मरणीय नहीं है ।

संदर्भ

१. रघुवीर दयाल वार्ष्णेय- रंगमंच की भूमिका और हिंदी नाटक पृ. १५३
२. गजानन जहागीरदार - अभिनय कसा करावा (मराठी) पृ. २७-२८
३. वहीं । पृ. २८
४. वहीं । पृ. २८
५. वहीं । पृ. १२८-१४९
६. डॉ. बाबासाहेब पोवार , लक्ष्मीनारायण के नाटकों में रंगमंचीयता से उद्धृत । पृ. ९२
७. सूषमापाल मल्होत्रा - प्रसाद के नाटक तथा रंगमंच । पृ. ३०
८. जीवन प्रकाश जोशी - नाटककार मोहन राकेश । पृ. १८
९. शिवनंदन सहाय- भारतेंदु चरित । पृ. १७१
१०. गोपाल गहमरी - दैनिक आज , काशी २८ अप्रैल , १९२७ पृ. ७
११. डा. शांति मलिक - हिंदी नाटकों की शिल्प विधी का विकास । पृ. १०२
१२. डा. जगन्नाथ प्रसाद मिश्र- प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन । पृ. २९५
१३. भगवती प्रसाद शुक्ल - प्रसादयुगीन हिंदी नाटक । पृ. २३९

